संचालक की ओर से—

शंखनाद देवमन्दिरों में प्रभात में भी होता है और प्रदोष में भी। प्रभातकालीन शंखनाद जाग्रति और नव जीवन का सन्देशवाहक है एवं प्रदोषकालीन शंखनाद सृष्टि को तप्त करने वाले अत्याचारी सूर्य के पतन का द्योतक; वह विश्व को शांति का आनंददायी संदेश लाता है। हमारे देव-मन्दिरों का शंखनाद इस प्रकार एक साथ ही क्रांति और शांति का प्रतीक है। भारती-मंदिर का यह 'शंखनाद' भी अपने यही सन्देश लाने में कितना सफल हुआ है, इसका निर्णय विज्ञ पाठक स्वयम् करेंगे।

स्वयं कल्याणकारी शिव ही जब प्रलय-कर्त्ता हैं, तब नाम से भयावह होने पर भी 'प्रलय'

कितना सत्य, कितना सुन्दर और कितना शिव है यह वे ही समझ सकेंगे जो प्रलय के अशिव रूप पर दृष्टिपात न करके उसके फल–सतयुग के उस पुण्य प्रभात पर दृष्टि डालते हैं, जो कलियुग के प्रलय की भीषण लपटों में भस्म होने के बाद उदय होगा। सतयुग के देवदूत और नवयुग के निर्माणकर्त्ता इस प्रलय का अर्थ और रहस्य हम समझें और इसके अभिनन्दन के योग्य हों इसी लिये इस 'प्रलय-पुस्तक-माला' की सृष्टि की गई है।

'प्रकाशक भी एक व्यवसायी ही है। वह भी अपने ग्राहकों को कम से कम देकर अधिक से अधिक वसूल करना चाहता है। फिर हम इसके अपवाद क्यों बनें?' हृदय की इस स्वार्थ–भावना को ठुकराते हुए हम आगे बढ़ रहे हैं। हाँ, यदि भविष्य में हमें इसका शिकार बनना पड़ा तो इसका दोष केवल हम पर ही न होगा, हिंदी-संसार भी उसके लिये उत्तरदायी होगा। विद्यार्थी–जीवन में रह कर इस प्रकार समयोपयोगी 'सत्यं शिवं सुन्दरं'

साहित्य का प्रकाशन हमारे लिये कितना दुष्कर कार्य है, यदि पाठक यह समझेंगे और हमें उत्साहित करेंगे तो हम अपने आगामी ग्रन्थ भी शीघ्र ही साहित्य-संसार के सम्मुख समुपस्थित कर सकेंगे। इस ग्रन्थमाला का दूसरा प्रकाशन "जौहर" तो आगामी मास में ही पाठकों के पास पहुँच जायगा।

इस कार्य में मुझे जिन जिन मित्रों ने सहायता की है उनके प्रति कोरी कृतज्ञता प्रकट करना मैं कृतघ्नता समझता हूँ।

स्नेह-सदन, | विनीत-
प्रतापजयंती. २४ वि० | 'वीर' विशारद

विज्ञप्ति

आज जब जड़ता की कड़ियों में बद्ध हमारे जीवन और प्राणों में मूर्च्छा का अभिशाप है, पारतन्त्र्य के पाश से जड़ीभूत और उत्पीड़न के पाप की तमसा से आच्छन्न हमारी आँखें भ्रान्त और अंधी हैं, पतन के आक्रमण से जीवन हतप्रभ और म्लान है, आत्मा विमूढ़ और चेतना निष्प्राण है; जब श्रांति के चुम्बन से हमारा देह निश्चेष्ट और निस्पन्द पड़ा है, कानों में निराशा, भर्त्सना, रोदन और क्रन्दन के गीत गूँज रहे हैं, जठर की ज्वाला से जलते हुओं का हाहाकार कलेजे को टूक-टूक करे दे रहा है; जब हमारे ही पाप का चीत्कार हमारे रक्त की रही-सही चेतना को भी छीन रहा है और हमारी अन्तर्वेदना ओठों पर आ-आ कर बोलती नहीं, वाङ्मय होकर भी हम निर्जिह्व हैं; जब सर्वनाश का वज्र गिर कर हमें लकवा मार गया है, जब सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में संघर्ष है, ज़लज़ला है और विप्लव है, अशान्ति की आँधी सी आरही है, और पाँव हमारे वृक्षों के समान उखड़ गए हैं; और जब प्रशान्त वातावरण की खोज में प्राण छटपटा रहा है, तब यह 'शंखनाद' सोने का नहीं—क्योंकि

सोना मृत्यु का क्षणिक रूप है— बस जगने, जगने और कर्म-योग में लगने का कर्कश और निष्ठुर सन्देश देने आया है !

और आज इन हमारे निरुल्लास और अचेतन प्राणों की मूर्च्छा भी अद्भुत है ! इतिहास के दुर्भाग्य ने ऐसी प्रसुप्ति कभी नहीं देखी थी । आज हम अपनी नींद में, इस मूर्च्छा में—मैं नींद को मूर्च्छा कहता हूँ—जब सिंहनाद सुनते हैं तो हमें वह विलास का गीत जान पड़ता है ! हुंकार को हम लोरी समझ लेते हैं !! और निष्ठुर प्रहार को प्यार की थप-कियाँ !!! बुद्धि की वह अनवरुद्ध गति आज आखिरी साँसों के अभाव में रुद्धकण्ठ है, घर्राटा बँधा है, प्राणसंजीवनी की प्यास है और किसी वस्तु की नहीं । और ऐसे विनाश के क्षणों में हम हाला को संजीवनी समझ बैठे हैं ! यह दयनीय है !! परिवर्तन—क्रांति की व्यापक पुकार है, प्रलय उसका संदेशवाही है और हम प्रलय से भीत हैं !!!

राजनीतिक जीवन का विशाल मंदिर, यदि अत्यन्त सूक्ष्म आँखों से देखा जाय तो, हमारे अन्तर्जगत की भावनाओं की भित्ति पर ही खड़ा है—दूसरे शब्दों में हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन का वह प्रतिबिम्ब है । हमारे धार्मिक और

सामाजिक जीवन तो किसी जघन्य पाप से अभिशप्त हैं ही। दैव के ही इंगित पर हमारे जीवन की गतिविधि के परि-चालित होने की भावना का हम स्वागत करने लगते हैं, चाहिये वास्तव में हमें यह कि हम निराशा का बहिष्कार करें, उल्लास का आवाहन करें, आशा का अभिनन्दन करें। चाहिये हमें यह कि यदि भित्ति दुर्बल है और इस मन्दिर के भूकम्प में धराशायी हो जाने की संभावना है, तो स्वयम् ही उस मन्दिर को गिरा क्यों न दें और भित्ति का पुनर्निमाण क्यों न करें—भित्ति ऐसी जो उल्लास और उत्साह के चूने और गारे से निर्मित की जाय, चेतनता के हाथ जिसे आकर अनुप्राणित करें और फिर पुरातन को अन्तर्द्धान करके हम नूतन के पुण्य आश्रय की ओर बढ़ें, बस स्वयं 'शंखनाद' करें और चल दें।

'शंखनाद' लोक को कैसा लगेगा, यह मैं क्या जानूँ ? यह अन्तर को छू सके या वाह्यावरण ही को कम्पित करके रह जाय, यह लोक की ही उस अभिरुचि पर निर्भर है जिसके साथ वे उसका स्वागत और अभिनन्दन करें।

भारती मंदिर, कोटा
२३-९-३७

—सुधीन्'

स्वाधीनता और स्वाभिमान के अमर पुजारी

संदेश

देश-दशा को देख-देख अब हे भारतसंतान, जगो !
पतित दलित पीड़ित स्वदेश के अहो अजर वरदान, जगो !
मा को रोता देख आज भारत के हत अभिमान ! जगो,
शंखनाद सुन-सुनकर अब तो नतहत-मृत ! निष्प्राण ! जगो !!

समर्पण

भरा प्राणों में जिसका प्राण

प्राण में गूँजा जिसका गान

गान में गूँजा जिसका प्राण

भरा कानों में जिसका गान;

प्राण जिसका है यह वर दान

नाद का है जो प्राणाधार

समर्पित 'शंखनाद' साभार

उसी को, जिसका यह वरदान !

नवयुग !

तू गा रहा, ये सभी गाते, मैं भी गाऊँ क्यों न ?
प्यार चढ़ाता, शीश चढ़ाते, अर्घ्य चढ़ाऊँ क्यों न ?
मैं तो कवि रे, देख–देख कर पीड़ित जग का क्लेश
और करूँ क्या ? मैं तो तेरा कह दूँगा सन्देश;
रोऊँ, हँसूँ और गरजूँ तो वह सब होगा तेरा
मैं तो तेरा अभिनेता हूँ, सूत्रधार तू मेरा।

—'सुधीन्द्र'

मा वाणी, मेरी वाणी की वीणा में वह राग जगा दे
पुण्य जागरण का जन-जन के मन में जो अनुराग जगा दे !

स्वयम् प्रलय आ लय में गाए
स्वर-तारों को मींड-मींड कर
जिनके घर्षण से प्रसूत हो
महानाश का शिव वैश्वानर !
प्राण-स्पर्श पा धू धू कर मा
महाचिता बन धधक उठे तन,
अंग-अंग हो होम, रहे पर
अनवच्छिन्न अजस्र गीत-स्वर !

स्वयम् मुक्त निर्बन्ध, जगत् का बन्धन में अनुराग भगा दे,
मा वाणी, मेरी वाणी की वीणा में वह राग जगा दे !

काँपे भूधर, सागर काँपे,
तारकलोक - खमण्डल काँपे,
यह विराट भूमण्डल काँपे
रविमण्डल, आखण्डल काँपे !
परिवर्तन का, क्रांति-प्रलय का
गूँज उठे सब ओर घोर स्वर,
देख दृष्टि हुंकार श्रवण कर
अन्ध गन्धवहमण्डल काँपे !

जो अपने ध्वंसक स्वर से मा, प्राण-प्राण में आग लगा दे,
मा वाणी, मेरी वाणी की वीणा में वह राग जगा दे।

वा

मन में वह पागलता छाए
जिसमें दृग-दृग के प्रहार पर
जड़ता की कड़ियाँ परवशता—
आलिंगन झड़ पड़ें विनश्वर !
वन-वन आसव-अमृत हलाहल
तन में जाग्रत करें महानल !
पारतन्त्र्य के पाश गिरें जल
जिसमें गल-गल पिघल-पिघलकर !

जो फूलों को तोड़ आग से मन का अशिव विराग भगा दे,
मा वाणी, मेरी वाणी की वीणा में वह राग जगा दे !

तीक्ष्ण तान के खर प्रहार कर
जो कटु कर्कशता बिखरादे,
जिसमें लय हो अधम पुरातन
ऐसा शुचि नूतन बरसा दे,
पुण्य सत्य की आभा से हो
अन्तर्द्धान पाप की छाया,
जाड्य – रूढ़ि – अज्ञान – मोहमय
पथ का तमसा–जाल जला दे,
'ओ३म् तमसो मा ज्योतिर्गमय'–
स्वर जीवन को जाग जगा दे,

महाप्रलय का जो जन–जन के मन में दुर्वह राग जगा दे,
मा वाणी, मेरी वाणी की वीणा में वह राग जगा दे!

———

अभिनन्दन

आज जब निराशा के विष से हमारा यौवन आक्रांत है और जब दिल गुदगुदाने वाली तस्वीरें और ड्राइंग रूम की शेखी भरी, आराम के साथ की जाने वाली बातें हमारा मानसिक भोजन बनी हुई हैं तब वह आधुनिक युवक जो उमर खैयाम की

Here with a loaf of bread beneath the bow,
A flask of Wine, a book of Verse, and thou
Beside me singing in the Wilderness:
And Wilderness is Paradise enow.

अर्थात्

[इस तरु तले कहीं खाने को रोटी का टुकड़ा हो एक।
पीने को मधुपात्र पूर्ण हो, करने को हो काव्यविवेक।
तिस पर इस सन्नाटे में तुम बैठ बगल में गाती हो,
तो मेरे हित इसी विजन में स्वर्गराज्य का हो अभिषेक।]*

—चतुष्पदी को लेकर एक स्वप्निल जीवन के निर्माण में लगा हुआ है, जिसको सदा मुलायम और श्रवण-सुखद शब्द सुनने को मिलते रहे हैं और जिसके अभाग्य ने उसे कभी पौरुष का कर्कश

---

* श्री मैथिली शरण कृत अनुवाद। श्री केशव प्रसाद पाठक ने अनुवाद यों किया है—

इस कदम्ब के तले स्वल्प यदि पाता मैं आहार कहीं,
मिलती मधु की प्याली, होता अमरगीत भी साथ यहीं,
बैठ पास में स्वर भर कर यदि कूजित करती तू कानन,
मेरे लिए प्रिये ! बन जाता यही विजन तब नन्दन-वन।

स्वर एवं विजयोन्मत्त जीवन की हुंकार सुनने का अवसर प्रदान नहीं किया, वह 'शंखनाद' सुन कर विचलित हो उठे तो कोई आश्चर्य की बात न होगी !

आज 'शंखनाद' को देख कर–सुन कर हमारे मन में ये बातें उठ रही हैं !

× × ×

–और आज राष्ट्रीय जीवनके भाटे (Low ebb) में, जब उन सब लोगों का दम घुट रहा है जो धमनियों में उष्ण रक्त प्रवाहित होता अनुभव करना चाहते हैं, मुझ से कहा गया है कि मैं बिगुल बजा दूँ–और चन्द शब्द इस 'शंखनाद' की भूमिका के रूप में कह दूँ। मेरा अपना ख्याल है कि किसी पुस्तक की भूमिका लिखने से कष्टकर काम दुनिया में कम ही होंगे। अब समय आगया है कि रचयिता को अपनी अनुभूति का, अपने विचारों का, अपनी वाणी का नेतृत्व स्वयं करना चाहिए। यह कठिन

कार्य है पर बिना इसके मुक्ति का स्वर इस आलस्य और निष्क्रियता को ध्वनित एवं विकंपित नहीं कर सकता।

× × ×

यह हमारे जीवन का संक्रान्ति काल है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष है। कुछ ऐसा हुआ कि नूतन का प्रवाह तब आया जब हम सो रहे थे। इसीलिए आज हमारे राष्ट्रीय जीवन में आकस्मिक जागरण की रूक्षता एवं अव्यवस्था है। इसीलिए हम अपने साथ परिस्थिति का ठीक-ठीक सामंजस्य आज भी नहीं कर पाये हैं। जग गये हैं पर अभी ठीक-ठीक समझ में नहीं आ रहा है कि यह सब क्या होगया है, कैसे होगया है। वर्तमान में होकर भी हम भूत में ही हैं।

हमारी यात्रा तो चल ही रही है—मानव जाति की पगडंडियां इस यात्रा से मुखरित भी हैं

पर हमारे प्रत्येक पग में आत्मविश्वास की, आत्म-दर्शन की, आत्माभिव्यक्ति की जो थाप, जो धौंस होनी चाहिए वह नहीं है। जब हमें पहाड़ को काट कर रास्ता बनाना है और दुर्गम घाटियाँ जब हमारे विजयोल्लास से ध्वनित हो उठने में गर्वित होंगी तब हमें बीती हुई मंज़िल की याद में घुल घुल कर मरने से न होगा; तब हमें विलास-रजनी की स्मृतियों को ढोकर अपने को खो देने से न होगा। तब मधु पात्रों को लात मार कर चूर कर देना होगा और मद्यभाण्ड तोड़ देने होंगे। जब चाँदनी चली गई है और निशीथ के मोहक एवं प्राणोन्मादकारी वातावरण का अन्त हो गया है तब महज़ उसकी याद में रोने या उसकी स्मृति में विस्मृत होने से काम नहीं चलेगा। सामने जीवन की प्रखर दोपहरी पड़ी है और लम्बा मार्ग तै करना है—मार्ग जिनमें फूल कम हैं और काँटे जहाँ पाँव के तलुओं को चूमते हैं। हमें अपना दिल आज इस यात्रा के अनुकूल

बना लेना होगा।

और मैं कहना चाहता हूँ कि यह नशे के वातावरण में जीने से न होगा। यह जग कर चलने से होगा,—वह कलेजा पैदा करने से होगा जो फ़ौलाद की सैकड़ों चोटें बर्दाश्त कर सके। मैं यह नहीं कहता कि नशा अनिवार्यतः बुरा है। इतिहास ने ऐसा नशा भी देखा है जो युगों को उलट देता है और जो दुनिया का नक़्शा बदल देता है। नशा हो पर वह नशा जिसमें आत्मा जगे, जिसमें आत्मा तड़प कर अपने स्वर में बोले; जिसमें मूर्च्छा नहीं, जागृति और विजय का स्वर हो।

तब आज के कवि से हमें अपेक्षा यह है कि वह हमारे सुप्त प्राणों को जगा दे, हमारी नसों में विद्युत्प्रवाह प्रवाहित कर दे; वह जिसका स्वर पहाड़ों की चोटियों से टकराये, घाटियों को थर्रा दे और दुर्गम पथों पर गूँज उठे।—वह जो हमारे पौरुष

और हमारी साहसिकता को चैलेंज देकर जगा दे; हमारी शिराओं में हमारे रक्त-बिन्दुओं के साथ दौड़े।

मैं नहीं कहता कि 'शंखनाद' का कवि इस कमी को पूरा करता है। मैं यह मानने से इन्कार करता हूँ कि राजनीति को कविता पर हावी होकर चलना चाहिए। राजनीति का सम्बन्ध जीवन के बाह्यावरण से है: कविता जीवन के अन्तर को छूती और जगाती है। आजकल जो यह समझ लिया गया है कि राष्ट्र के जागरण का कवि अनिवार्यतः राजनीतिक कवि होगा, वह ग़लत है। पर यह है कि वह राजनीति को प्रकाश देगा: वह जीवन के दीर्घ कराटक-पथ पर चलते हुए हमारे थकावट से भर रहे दिलों को ताज़ा और हरा कर देगा। वह हमारे अन्दर जो सर्वश्रेष्ठ मूर्च्छित पड़ा है, उसे जाग्रत करेगा; वह हमें यौवन का ओज और यौवन की स्फूर्ति देगा।

मैं मानता हूँ, इस दृष्टि से 'शंखनाद' बहुत गहरे तो नहीं पैठता—उसकी 'अपील' हमारे ऊपरी स्तरों को ही छूती है, पर मैं खुले दिल से उसका स्वागत करता हूँ,—इसलिए कि जब चारों ओर निराशा और दुःख के गान सुनते-सुनते हम में एक शिथिलता—एक 'मॉरबिडिटी'—आ रही है तब उस नीरसता में, उस 'मोनोटनी' में यह एक सुखद परिवर्तन—'हैपीटर्न'—की ओर संकेत करता है।

'शंखनाद' के कवि के शब्दों में प्रवाह एवं उल्लास की यथेष्ट मात्रा है। उस में विजय का आवाहन है; जागरण का संदेश है। स्पष्टतः कवि के दिल में दर्द है और उसके शंखनाद में इस दर्द की प्रतिध्वनि हम सुनते हैं। उसकी जागृति का गान इसीलिए अंशतः अतीत की व्यथा से अनुरंजित है।

उसमें आवाहन ही नहीं, अपील भी है और उल्लास ही नहीं, रोदन भी है। यह इसलिए कि कवि ने अभी अनुभूतियों को कहना शुरू ही किया है और अपने अतीत के बन्धनों से वाणी को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाया है। मुझे आशा है कि निकट भविष्य में 'शंखनाद' का कवि अपने में उस गीता-गायक को जगा लेगा और हमारे प्राणों पर मोह का जो परदा पड़ा है उसे अपने आत्म-जागृतिकारी गायन से छिन्न-भिन्न कर देगा।

तब तक हम इस 'शंखनाद' का, जो हमारे पड़ाव में एकाएक ध्वनित हो उठा है, हम स्वागत करते हैं क्योंकि यह हमें उस मंज़िल की याद दिलाता है जो हम न भी चाहें तो तेज़ी से हमारी ओर दौड़ी चली आ रही है और जिसकी कसौटी पर, निकट भविष्य में, हमारा पौरुष और हमारी

जागरूकता कसी जायगी।

मैं 'शंखनाद' का अभिनन्दन करता हूँ।

हरिजन सेवक संघ,
किंग्स वे, दिल्ली
४-६-३७

—श्री रामनाथ 'सुमन'

सूची

शंखनाद

भारत के व्यामोह-तिमिर में
जाग उठो हे गीता-गायक !
अपना सूत्र सँभालो कर में
महासमर के भाग्य-विधायक !

आओ फिर हे भारत-सारथि !
कर्मयोग के गाने वाले !
त्यक्तायुध रह कर भी रण का
विषम अब्धि तर जाने वाले !

स्वयम् मरुत्-नन्दन स्यन्दन पर
तुम सारथी बने आरूढ़,
फिर कैसे भारत रह पाए
रण में किंकर्त्तव्यविमूढ़ ?

पाञ्चजन्य का पंचप्राण सा
भरने वाला घोर निनाद
हृषीकेश ! हाँ हर सकता है
यह चिर-सेव्य प्रमाद-विषाद।

आज धनंजय शिष्य तुम्हारा
धनुर्बाण तूणीर उतार
बैठा है हतबुद्धि क्षुब्ध हो
शिर पर धर जड़ता का भार।

अन्तर का संघर्ष दृगों में
आँसू-सा बन कर छाया;
लाल ! नहीं होगी नव कर की
क्या उर.के शिर पर छाया ?

पुत्र ! परंतप आज धर्म का
पुण्यपाठ भूला-सा है;
आज सव्यसाची विभ्रम का
झूल रहा झूला सा है।

व्यामोहित भारत-रथ-तरणी
के हे कर्णधार धृतिमान !
आज तुम्हारा पाञ्चजन्य दे
पुनः अमरता का वरदान !

शंखनाद

पांचजन्य लेकर कर में फिर

औंर सूत्र भारत-रथ का

शंखनाद करदो कि हगों से

तिमिर दूर हो सत्पथ का !

× × ×

शंखनाद हो रहा, जगो अब,

उठो वीर ! आँखें खोलो !

अपनी जड़ता—मेरी कालिख

मेरे इस पय से धोलो !!

जागरण-गीत

बीत चुकी है रात ! जागो, हुआ प्रभात !!

छाया है तुम पर तमारि ! तम तमसा-अंचल तान,
कैसे तंद्रित और अचेतन भासमान द्युतिमान ?
जागो ! जागो !! बीत, हुई है तमसा अन्ध-मलीन,
देखो तो, कवि जगा रहा है गाकर आग्नेय गान !
होता है क्या अम्बरस्थ भी अंशुमालि भ्रमात ?

बीत चुकी है रात !
जागो, हुआ प्रभात !!

बढ़े जारहे, लो देखो, वे सब जाग्रति की ओर,
जाग्रति-जनक ! हुए सब जाग्रत पर तुम जाड्यविभोर,

जागो, तम—आवरण फेंक कर चमको सोते सूर्य्य !
तुमको सोता समझ घुसें हा! क्यों न सदन में चोर?
इन्हें थपकियाँ समझ रहे हो, ये घातक आघात !
बीत चुकी है रात !
जागो हुआ प्रभात !!

रोते हो अब, कैसे होगा यों अघ का परिहार ?
उठो जीर्ण-जर्जर अंगों पर बढ़ता जाता भार ।
पाश-बद्ध-से पड़े देखते हो क्या स्वर्णिम स्वप्न ?
चमका कर खर किरण छिपा दो स्वप्नों का संसार:
अपने जाग्रति-कर से धो दो ये दुख जड़ता-जात !
बीत चुकी है रात !
जागो हुआ प्रभात !!

करुण कहानी

जिनके किंचित भी इंगित से कम्पित होता था भूमण्डल–
त्रस्त हुआ करता था जिनका भ्रूकुटि-विलास देख आखण्डल–
जिनकी अभी-अभी फहरी थी अखिल विश्व में विजय-पताका–
जिनके शौर्य्य-वीर्य्य-पौरुष का दशों दिशाओं में था साका!–

उन हम सबके तन का शोणित आज हुआ क्यों पानी-पानी!
कहने को मुँह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी।

सुनते हैं दुर्बल की भी तो आहें होती हैं प्रलयंकर,
और नहीं तो विश्व तप्त कर ला देती हैं विषम बवंडर;
शेष रह गया किन्तु हमारे हृदयों में हलका-सा स्पन्दन!
बन हैं अब निश्वास, निराशा, भीति, भीरुता, करुणा, क्रन्दन!!

हम सब के जीवन की धुँधली एक यही रह गई निशानी;
कहने को मुँह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी।

शंखनाद

जीवन का है चित्र हमारे खिंचा आँसुओं की झड़ियों में !
जननि ! हमारी माया-ममता आज बनी है हथकड़ियों में:
छोटा-सा संसार हमारा घिरा जेल की दीवारों में !
स्वप्न देखते हैं हम सुख के आज सीखचों में-तारों में !

पिंजरे में तो घिर मृगेन्द्र भी भला करेगा क्या मनमानी !
कहने को मुँह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी !

भादों की काजल-सी काली कई आठवीं रातें बीतीं,
कारागृह सब थके देखते और होगईं आँखें रीतीं:
सहसा खुल न पड़े दरवाज़े, सहसा नहीं शृंखला टूटी,
निकल पड़े यों शब्द मुखों से-"हाय, हमारी किस्मत फूटी!"

अकर्मण्यता ने किस्मत पर हाय ! दोष मढ़ने की ठानी!
कहने को मुँह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी !

नहीं हुई क्या ग्लानि धर्म की, अभ्युत्थान नहीं पापों का ?
नहीं हुआ आधिक्य अभी क्या दुष्कृतियों का-अनुतापों का ?
किधर सो गए फिर गीता का शुभ सन्देश सुनाने वाले,
अपने ही मुँह अपनी श्लाघा भारत से कर जाने वाले ?

बतलाए तो इसका कारण आ कोई गीता का ज्ञानी !
कहने को मुह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी !

एक बिचारा वृद्ध तपस्वी उधर चढ़ाता बलि जीवन की,
उसे घेरती हैं चिन्ताएं जन्मसिद्ध-धन, हरिजन-जन की;
इधर असत्य गर्व से फूले धन-जन-मद के ये मतवाले
कुचल रहे हैं हमें, न्याय को मुख पर भेंट चढ़ाने वाले;

इनने अपनी शान सुरा के पात्र ढालने ही में मानी
कहने को मुँह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी

कब तक और सहेंगे मा! हम दुर्नीतियों-कलुषित चालों को?
कब तक देखेंगे हम तेरे कान्तिहीन बिखरे बालों को?
कब तक तेरी पीड़ाओं की गिना करेंगे दुखमय घड़ियाँ?
कब तक बजा करेंगी पद में जंजीरें, कर में हथकड़ियाँ?

कब तक दासी बनी रहोगी यों, हे सब देशों की रानी!
कहने को मुँह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी!

आओ, हथकड़ियों से ये शिर फोड़-फोड़ उर जाग्रत कर दो,
जन-जन में उत्साह, अतुलबल, पौरुष, शौर्य्य, धीरता धर दो,
टीका कर मस्तक पर वरदे! वर दो, भर दो बल कर-कर में,
गूँज उठे फिर देखो जनध्वनि भूमण्डल-जल-थल-अम्बर में!

कहने को रह जाय जगत् में नहीं हमारी व्यथा-कहानी
"कहने को मुँह नहीं हमारे, भला कहें क्या करुण कहानी!"

'सिख के वचन'

(१)

अरे, पतन के वृत्त! प्रलय की अघ-सी काली रात!
नत-हत आर्यावर्त! विश्व की युग से भूली बात!
तुम्हारा रहा कहाँ, अस्तित्व
आज भी हो हत-स्वत्व!
अभ्युत्थान-शैल से तुमने देखा विभव-प्रभात,
दिनकर-कर-मण्डित वह उन्नत कीट हुआ भू-ख्यात—
कि जिसकी प्रखर प्रभा को देख, जगा जग जान गतवती रात
कहाँ ले गई कौन-सी बात
तुम्हारा वह उत्कर्ष-महत्व?
होगया विभव स्वप्न की बात।

(२)

अभी अभी भारत—नभ में था वैभव—रवि का हास,
देखा था मध्याह्न तेज का द्युतिमय विभव—विलास;

अरे यह सन्ध्या ही के पूर्व
अचानक आधी रात !

थिरक रहा था जिस उपवन में, अभी मुग्ध मधुमास
विकसित थे यश—सुमन और था बहता मलय वतास;
कि जिनकी सुरभि प्राप्तकर विश्व मधुप-सा बन जाताथा दास

वहाँ पतझड़ का भैरव नृत्य
और प्रलयंकर झंझावात !
प्रलय का भीष्म भयंकर लास!!

(३)

नहीं हुई क्या ग्लानि धर्म की, अघ का अभ्युत्थान?
किस आशा में पड़े रहे फिर, कारागृह सुनसान?

नहीं खुल पड़े जेल के द्वार
नहीं टूटी जंजीर !

किस भादों की रात्रि करेगी प्रभु–उत्पत्ति–विधान?
क्यों न हटा अज्ञान–आवरण, तज दो भ्रम-परिधान:
कि जिससे ज्ञानी होते हुए दिखाते इतना हो अज्ञान!

तोड़ सकते हथकड़ियां नहीं
भला क्या अब भारत के वीर–
भीम–से वीरों की सन्तान?

(४)

अरे, अमरपुर भारत में क्यों छुआछूत का भूत ?
एक पिता चारों का, माँ के चारों प्यारे पूत !

विधाता के विधान का हाय !
कर दिया सत्ता—नाश !

वे सारल्य—स्वरूप तुम्हारे दास, धर्म के दूत,
किया उसने तुमको तो पूत और उनको कर दिया अछूत!
कि जिससे हम-तुम-ये-वे और हुई सारी संसृति सम्भूत

भला उन दीनों का अभिशाप
करे तुम सबका क्यों न विनाश?
पातकी हो, पर बने सपूत !

(५)

चले जा रहे हो उत्कण्ठा से भर आह, कराह,
शुष्क अश्रुओं से ठण्डी कर, दग्ध हृदय की दाह;

भरे नीरव निश्वासों से
दाँयक कलुषित जीवन

अन्धकार की ओर प्रवाहित ऐ द्रुत क्षीण प्रवाह !
इस पतनाम्बुधि के जल की कुछ पाई भी है थाह!
कि जिसके पद-चुंबन की तुम्हें महत्वाकांक्षा-महती चाह;

ग्रस्त कर लेंगे क्षण ही में
तुम्हें ये पाप—नक्र भीषण
वहाँ कैसे होगा निर्वाह ?

(६)

अहो अघावृत धर्म ! अरे ओ मूर्त्तिमान अपमान !
लुटी हुई सम्पदा ! धूल में मिले हुए अभिमान !

तुम्हारा श्री—गौरव—ऐश्वर्य
आज करते उपहास !

हुए मृत्यु के काले पथ पर विद्युद्वत् गतिमान !
अर्जित करते पाप भाल को भाग्य—विधाता मान:
कि जिसने जगती को था दिया अश्रुत अद्भुत गीता का ज्ञान

दिया औरों को तो सद्ज्ञान
किन्तु कुछ रक्खा अपने पास?
देख फिर अपने वेद—पुराण ।

(७)

आज मींड कर जाग्रति–ज्योतिर्मयी किरण के तार
सुना रहा कवि प्राण–प्रदायक गीत तुम्हें सप्यार

दूर कर जाड्य–आवरण आज
खोल दो तन्द्रित अन्तः

उठो, मनुष्य बनो, कुछ समझो जड़ जीवन का सार,
जड़ता चढ़ा रही है तुम पर अमित अघों का भार–
कि जिससे जान रहे जड़ हुए भार अब निज प्राणों का प्यार

बढ़ा कर वक्ष बढ़ो; हों प्राप्त
उदय के साधन सभी समस्त !
पा रहे व्यर्थ पदों का प्यार ।

पराधीनते !

(१)

पराधीनते! तुझे किया विधि ने किस दिन, किस घड़ी सृजन?
इस सुख-सिंचित वसुन्धरा पर आई तू डाइन ! किस क्षण ?
कालकूट में बुझे दशन हैं तेरे, जिनका कटु दंशन,
टीस मारता रहता है उर में क्षण-क्षण खर शर बन-बन !

(२)

जिसके कलित कपोलों पर तू धर देती अपना चुम्बन,
जिसके कानों को छू लेता तेरे गायन का गुंजन,
क्षण-प्रति-क्षण होता जाता वह जीर्ण-शीर्ण-जर्जर-तर-तन
स्वयं मृत्यु से भी घातक है तेरा अरी, प्रणय-बंधन !

(३)

वह वन-विहग जिसे प्यारा है वन ही में स्वच्छन्द मरण,
स्वर्ण पींजर में पाता है निज को रुग्ण, दुखी, निर्धन,
अरी, जाल में फँस मृगेन्द्र का भी होता निष्फल गर्जन,
सुख पा सकते क्या तुझ से संतापित खग-मृग के भी मन ?

(४)

जिस क्षण होने लगता है री नर्तकि ! तव भीषण-नर्तन,
महा मृत्यु आ स्वयं वहाँ पर करती है वीणा-वादन,
घिर आते तब प्रलय-घटा बन निश्वासों के निष्ठुर घन,
और बरस पड़ते पग-पग पर पीड़न, क्रंदन और पतन !

(५)

हो जाता लय जब जड़ता में मन का स्वाभिमान-सा धन,
करता आवाहन तुझको तब प्राण-हीन-सा हो जीवन;
लक्षमुखी होकर करती है तब तू वैभव का भक्षण;
स्वयं मुक्ति ही करे पाश से मुक्ति, दासता से रक्षण।

क़ैदी और होली

(१)

आज अचानक प्रिये ! कहीं पर 'कुहू-कुहू' कोयल बोली
चौंक उठा मैं मधुर स्वप्न से, लगी कलेजे में गोली
"होली ! होली !!" कह बोली यों अन्तर से उसाँस जो ली
बीते शुष्क वसन्त-दिवाली, फिर क्यों अब आई होली ?

(२)

छवि तेरी अनिन्द्य-अलबेली आ तव अन्तर में छाई
उस पर अर्पित होने आतुर आँखों की अंजलि आई
बढ़ीं अमित उल्लसित भुजाएँ किन्तु यही बस निधि पाई—
पीले गाल, झलकती जंजीरें औ' पलकें अलसाई !

(३)

इस आधुनिक कृष्ण-मन्दिर में होली कहा ! गुलाल कहा !
जलती है प्रतिक्षण प्रिय ! होली प्राणों की विकराल यहा !
आँखों की पिचकारी में है भरा रक्त जल-लाल यहा !!
प्रिये ! उधर तुम हो वियोगिनी, मैं वियोग बेहाल यहा !!!

(४)

वे चुम्बन के सुखमय क्षण, ये पीड़ा की युग-सी घड़ियां !
वह उर का उल्लास-गान, ये माँ की करुणामय कड़ियां !!
वहाँ रोकती थीं रहने से प्रिये ! आँसुओं की झड़ियाँ
बाधा हुई यहाँ उस पथ में हाय ! बेड़ियाँ-हथकड़ियाँ !!!

(५)

कितनी बार अधम प्राणों ने मर मिटना चाहा, रानी !
कैसे पर-वश पर करता मैं किन्तु अधिकृत मनमानी !
नहीं चाहते अब बन्धन ये होकर जीना के ज्ञानी
आओ, मुक्त करो प्राणों को, मेरे प्राणों की रानी !

भाग्य !

भाग्य ! तुम केवल भ्रामक भ्रान्ति
पराजय–असफलता के नाम
तुम्हीं जड़ता के आश्रय एक
अज्ञता के गृह, अघ के ग्राम

दीन के यदि तुम काल कराल
काल का दलितों के मैं काल
सम्हल कर पग धरना इस ओर
बढ़ाना वक्ष शरीर सँभाल

भाग्य !

भुलाओ तुम हो कर तम-तोम
बनूं आलोक, जला दूं जाल
चुभो तुम हो कर कण्टक-शूल
दग्ध कर दूं बन वह्नि कराल

घिरो तुम शिर पर बन घन-घोर
उड़ा दूं आंधी बन उत्ताल
अड़ो तुम बन कर शैल अडोल
गरज मैं बनूं वज्र विकराल

बढ़ो तुम बन अम्बुधि उत्ताल
जला दूं मैं बन वाड़व-ज्वाल
अग्नि बन तुम धधकाओ धूम्र
बनूं मैं स्वर्ण-सदृश शुभ-भाल

चुराने उसे चलो तुम चोर !
तुम्हें मैं डस लूँ बन कर व्याल
आग उगलो बन ज्वालामुखी
हिलादूँ बन भीषण भूचाल

करों से छीन तुम्हारा प्राण
तुम्हें कर दूँ पल में कंकाल
निगल लो आशा को दुर्वृत्त !
निकालूँ उसे चीर कर गाल

बिखेरो शिर पर विपदा—वज्र
धरूँ उर पर कर मुक्तामाल
डुबाने चलो प्रलय की बाढ़ !
बनूँ ध्रुव धरणीधर धृतिधाम

भाग्य !

दिखाओ भय बन कर उद्भ्रान्ति
क्रांति बन जाऊँ मैं उद्दाम
करो अभिशप्त दान कर भ्रान्ति
शान्ति से कर दूँ उसको क्षाम

सदा तुम रचो निराशा—पुञ्ज
बढ़े मेरी आशा अविराम
बनो तुम रावण राक्षसराज
मिटा दूँ मैं तुमको बन राम

पराधीन पंछी से

(१)

पराधीन पंछी ! सचमुच ही पाला तुमको परवशता ने,
तुमने इस भ्रामक दुलार में इसीलिये सारे सुख माने,
पिंजर में बैठे ही तुमको प्राप्त हुए सब सुख के साधन,
मृगतृष्णा-सा सुख पाकर ही तुम बड़भागी बने सयाने !

(२)

स्वर्ण-पींजर में रहकर तुम चुगो स्वर्ण के भी यदि दाने,
परायत्त वैभव पाकर तुम गाओ मधुमय भी यदि गाने,
रूखा-सूखा खाते हैं, पर प्राण हमारे पावनतर हैं:
वैभव की चिन्ता करते हैं कब आज़ादी के दीवाने ?

(३)

लता-विटप देते हमको मधु-मिश्री-से मीठे फल खाने,
देते हैं हमको शिशुओं के लिये चोंच में रस भर लाने,
जंगल में मंगल कर देते हम सब चहक-चहक हिल-मिल कर;
वह आनन्द भला क्या समझें जो हैं नीरसता में साने!

(४)

सोते हैं हम यहाँ चैन से चादर हरित पत्र की ताने,
आती है उज्ज्वल ज्योत्स्ना तब हम पर अपना प्यार चढ़ाने।
इस दुखमय पिंजरे में तुमको मधुर नींद क्या आजाती है?
होते ही प्रभात आता है हमको मलय समीर जगाने।

(५)

नभ में काले-काले बादल घिर आते जब जल बरसाने,
'रिमझिम' 'रिमझिम' गा जब कोई लगता मधुर तार झनकाने,
उछल कूद करता बहता जब कल-कल, छल-छल कर चंचल जल
गा उठते हम सरिताओं की मधुर तान से तान मिलाने।

(६)

नये-नये परिधान पहन तरु लगते जब निज अंग सजाने
खिल उठते हम जंगल की जगमग में त्यौहारों को माने!
अरे, तुम्हारे पिंजर में है क्या बसंत, होली, दीवाली!
यहाँ सदा होली, दीवाली आती रहती हमें रिझाने!

(७)

निर्जन बन गाने लगता है भरते जब हम मधुर तराने;
सूखे पत्तों में लगती है स्वर की लोल लहर लहराने!
अपने कोटर के काँटे भी हमें कुसुम से कोमलतर हैं;
इस अल्हड़पन में, मस्ती में पाते हैं हम सुख मनमाने।

(८)

जीते तुम जग में जीवन का सच्चा मर्म बिना ही जाने,
तुम मरकर जाओगे अपनी विपदाओं पर अश्रु बहाने,
यों इस जीवन में मर कर भी यदि न हमें परितोष मिलेगा,
आएँगे फिर लौट इसी में अपनी बाक़ी साध मिटाने।

राजस्थान!

(१)

ओ प्रताप के जनक! बना क्यों भोला भक्त तेग को त्याग!
दूध पिला कर अरे, सर्प में करने बैठा है अनुराग!
वे प्रलयंकर गान भुला कर गाता है करुणारत राग
ज्वालामुखी! कहाँ है तेरी वही धधकती ध्वंसक आग!
सोता क्यों है रात समझ कर अरे, चैन में चादर तान!
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ रे रणरागी राजस्थान!

(२)

रज में तेरी उदित हुए थे रण में जग तरने वाले—
असि-आभा से जीवन-भर का कलुष-तिमिर हरने वाले—
हँस हँस कर करतल पर मस्तक काट-काट धरने वाले—
स्वयं काल क्या महाकाल से भी न कभी डरने वाले—
संगर में मर मिटने उनके आतुर हो उठते थे प्राण!
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ रे रणरागी राजस्थान!

(३)

पड़ा हुआ सोता है निर्मम! पीकर आसव के प्याले,
सोता है निश्चिन्त विषैला विषधर सिरहाने पाले!
फिर न मिलेंगे अरे अभागे, तुझे देख रोने वाले;
अब सोने का समय कहाँ है ओ सुख से सोने वाले!

तेरे मस्तक में आ सोया क्या सब अंधकार—अज्ञान
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ ए रणरागी राजस्थान!

(४)

सुन कर यह अपमान रक्त क्या खौल नहीं उठता तेरा!
भारी भरकम उदर आज क्या डोल नहीं उठता तेरा?
रे! भुजदण्ड आज तलवारें तोल नहीं उठता तेरा!
"रणचण्डी की जय!" मुँह सहसा बोल नहीं उठता तेरा!

आज तू नहीं तो करती है रणचण्डी तेरा आव्हान;
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ रे रणरागी राजस्थान!

(५)

तेरा ही राणा सांगा था जो प्राणों पर खेला था,
मचा दिया सीकरी-क्षेत्र में कैसा रेला पेला था !
उसको क्यों भय होता रण में यदि वह बचा अकेला था !
उसको तो यह समरांगण ही मोक्ष-प्राप्ति का मेला था !

भरले इन कायर प्राणों में रे राणा साँगा का प्राण !
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ ऐ रणरागी राजस्थान !

(६)

धरा काँपती थी सुन-सुन कर जिसके कड़खे का खर स्वर-
जिसके धौंसे की ध्वनि क्लीवों में देती थी स्पन्दन भर-
जिसकी रणभेरी में सुनता था जग जाग्रति-गीत प्रखर-
जिसकी हुंकारें हँसती थीं चीर-चीर अरि का अन्तर-

जगत निरखने आए उसको समरयज्ञ का अरे, विधान !
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ रे रणरागी राजस्था !

(७)

वीर पद्मिनी के जौहर में देखा था हमने उत्कर्ष,
मरते-मरते भी साँगा के ओठों पर अंकित था हर्ष,
धुला-घुला कर मार रहा था यद्यपि काल चक्र दुर्द्धर्ष
कैसे होने देता 'पत्ता' मातृभूमि-यश का अपकर्ष ?

देखें, हम भी तो कैसी थी वह प्रताप की तीक्ष्ण कृपाण !
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ ऐ रणरागी राजस्थान!

(८)

कायर पतियों से बालाएँ करती थीं अनुराग नहीं,
उनकी आँख आज बरसाती वह विध्वंसक आग नहीं,
इन निस्पन्द उरों में उठती वही स्फूर्त्ति क्यों जाग नहीं ?
रक्त रगों में नहीं रहा, प्राणों में ममता-त्याग नहीं ?

नहीं रहा क्या तुझ में कायर! अब हमीरहठ का अभिमान?
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ रे रणरागी राजस्थान !

(९)

अभी नहीं बुझ पाई उन बालाओं की जौहर-ज्वाला,
और थिरकने लगी छलकते प्याले ले साक़ी बाला
इसको पी जीवित भी मृत है यह ऐसी घातक हाला !
अरे, अमरता पाना है तो पीले शोणित का प्याला—

जिसको पी-पी कर उठ आएँ उर की आशाएँ म्रियमाण
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ ऐ रणरागी राजस्थान !

(१०)

बँधी हुई जिनकी मूठों से थी भारत की जीवन-डोर—
उन असियों की 'छपक्' 'छपक्' रे छूती थी अनन्त के छोर !
ले कुम्भा का कीर्त्ति-स्तम्भ अब देख रहा तेरी ही ओर,
फिर भी नहीं फड़कती बाहें उठती नहीं उमंग-हिलोर !

करले स्मरण अभागिनी ! वह तेरा गौरव-गिरि पर स्थान
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ रे रणरागी राजस्थान !

(११)

क्लीव हुआ, या मरणोन्मुख है, पड़ा हुआ या विषयासक्त ?
प्रायश्चित करने बैठा है या पापों का बनकर भक्त ?
समर-क्षेत्र में सो, यदि सोना ही है रे निर्वीर्य्य ! अशक्त !!
बुझता है दीपक वह जिसमें जलता है प्राणों का रक्त !

भरदे, भरदे स्नेह, देश का दीपक होता है निर्वाण ;
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ ऐ रणरागी राजस्थान

(१२)

पड़ी हुई सोती भस्मावृत तेरे अन्तर की आगी !
कितने अश्रुघृत की आहुति दी, न किंतु अब तक जागी !
'सुन्' 'सुन्' करके धुआँ उठा कर रह जाता है हतभागी !
अरे धधक उठ 'धू' 'धू' करता, रणोन्मत्त हो रणरागी !

जिससे भूमण्डल हो जाए प्रलयानल के पिंड-समान
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ रे रणरागी राजस्थान !

(१३)

आज पंगु होगया अरे तू ? रहा शौर्य्य भी पास नहीं !
नस-नस में न वही चेतनता, रोमों में उल्लास नहीं !
वही त्रिलोक कँपाने वाला तेरा अब रणहास नहीं !
समझ, कि तू है विश्व-विजेता अरे किसी का दास नहीं;

आमंत्रित करले-अभ्युन्नति, करले नव-भविष्य-निर्माण;
जी उठ, जी उठ, अरे जाग, उठ ऐ रणरागी राजस्थान !

प्रताप

[एक]

हे हिन्दूकुल-अंशुमालि ! हे शूराग्रणी प्रताप !
भर जाओ आ अमर लोक से हम में वही प्रताप
कि जिससे रहता था हतदर्प
लुब्ध भारत-सम्राट
नहीं किसको उसकी उस काल
रहीं थी नीति-नागिनी काट ?
शीश उन्नत कर तुम तब समुद
निमन्त्रित करते थे विभ्राट !
देख सन्धानित तव भ्रू-चाप
हिल उठी थी सल्तनत विराट !
सत्य के सम्मुख जैसे पाप !

[दो]

तुम पर फेंका जाल, किन्तु था तुम में गौरव–गर्व
तुम थे अटल–अडोल, रहे थे खोज रणोचित पर्व
देश–दीपक पर मुग्ध पतंग !
आर्य्य–भू के अभिमान !!
भला कैसे कह कर " सम्राट ! "
उसे करते तुम लज्जा–दान ?
तुम्हारी आन–सदृश ही आर्य्य !
तुम्हारी थी वह आन महान
रही जब तक वह अक्षत, जाति
रही पाती तब तक उत्थान
आज खो बैठी साधन सर्व !

[तीन]

शत्रु काँपते थे करते थे जब तुम समर-प्रयाण
शर-आहत-खग-प्रतिम छटपटाते थे उनके प्राण
कि जैसे ऊषा की द्युति देख
छटपटाती है रात
इधर तुम करते थे पद पात
उधर होता था वज्राघात
इधर होता था भ्रू-चालन
उधर वे होते थे भू-सात्
तुम्हारा देख-देख शल प्रखर
थरथराता था उनका गात ,
हृदय हो जाते थे म्रियमाण !

[चार]

अहो, मचाते थे रणरागी ! तुम कैसा रण–रंग !
विद्युद्वत् द्रुत–दीप्तिमान बनता था स्फूर्त्ति तुरंग !!
कँपा देता था पाद–प्रहार
धरा, बन कर भूचाल !
अग्र रहते थे चेटक अश्व
सेल्ह की अनी, तुम्हारा भाल
शत्रु के सिर पर तव हुंकार
नाचती थी बन वज्र कराल
पान करने लगता था रक्त
तृषित शल बन कर भीषण व्याल
तृषा उसकी थी अमित, अभंग !

[पांच]

क्षुधित-तृषित रह रखने वाले अमर वीर! अभिमान
मर-मिटती क्या आन? मर-मिटे तुम रख अक्षत आन
रहे मुसकाते झेल विपत्ति—
भूधराकार प्रहार
घोर दुख सहे सत्रिय-सुत-सुता
समुद रह निराहार—साहार
तुम्हारे हृदय-पात्र में किन्तु
छलकता था स्वजाति का प्यार
देश की रज के कण-कण हेतु
प्राण थे तुमको लघु उपहार
तुम्हारा था अद्भुत् बलिदान!

[छः]

बहा ले गया विपदाम्बुधि में तुमको नियति-प्रवाह
घुल घुल कर तुम मरे किन्तु निकली न हृदय से आह

सुनाती हल्दीघाटी अमर
तुम्हारा गौरव-गान

अर्वली का है उन्नत शीश
तुम्हारी आत्मा का अभिमान
लिखा जिसके कण कण पर अमिट
तुम्हारा वह अकलुष आख्यान
आज भी गूंज रहा है वहाँ
तुम्हारे पुण्य-प्राण का गान

अमर है आज तुम्हारी चाह !

[सात]

था तुममें अमंद मतवालापन, अदम्य उत्साह
आज़ादी का दीवानापन, मर मिटने की चाह
धधकती थी जी में विकराल
तुम्हारे तप की आग
रमा था रोम-रोम में शौर्य्य
हृदय में स्वाभिमान से राग
आर्य्यकुल-आर्य्य ! विरागी वीर !
भरा था तुम में अतुलित त्याग
देख तव नयनों की खर ज्योति
उठी थी सुप्त चेतना जाग
जूझ पड़ने की लगन अथाह

[आठ]

जिनके हेतु तजे तुमने तन-मन-धन—वैभव—राज
उँह, क्या हुआ न भोग सके यदि तुम वे सुख के साज?

किन्तु ले तुम ओठों पर गए
स्वर्ग में गर्वोल्लास

कर गये अंकित यहाँ प्रताप !
रक्त-रंजित प्राणद इतिहास
सिखा जाओ स्वदेश का प्रेम
लुटा देना तन-मन सोल्लास
जगा जाओ प्रताप ! वह आन—
साध, प्राणों में बलि की प्यास

सुप्त—मूर्च्छित—मृत—विस्मृत आज !

[नौ]

पड़े हुए निश्चेष्ट, युगों से सुप्त हमारे प्राण
अधम—अचेतन अन्तर हैं हा ! आशाएँ म्रियमाण
आज जड़ नर—पशु हम नत, दीन—
हीन, कापुरुष, अशक्त
आज हम नर्तनरत अघरक्त
असत्—वासनाऽसक्ति—आसक्त !
क्लैव्य—परवशता पर अनुरक्त !
भीरु भावों के भावुक भक्त
आज हम त्यक्तायुध, त्वक्शेष
निपट निस्पन्द, पीत, हतरक्त
हमें आकर करदो सप्राण !

× × ×

धर्म

देखो देखो ये भाई भाई !
जिनको उठते और बैठते बस लड़ने ही की धुन छाई !
दोनों ने गौरव पाया है—एक धूलि में खेल-खेल कर
दोनों को माँ ने पाला—पय पिला-पिला दुख झेल-झेल कर
'दोनों बड़े हुए सुख देंगे' आस लगाए बैठी थी माँ
यह क्या ! यह क्या ? लड़ते वे तो एक दूसरे को धकेल कर !

"तू ही रह लेगा या मैं ही अब इस घर में
देखी है, क्या चमक रही यह मेरे कर में ?"
"भाई, तू है बड़ा, तुही इस घर में रह ले,
रह लूँगा मैं सब, जो इच्छा हो वह कह ले"

पर वह कब माना ? उसने तो उसकी गर्दन मारी !
देख-देख दुर्गति इनकी माँ, चीख उठी बेचारी !
कैसा मेल ! रहे भाई जब भाई से यों ऐंठा-ऐंठा !
हाय, वही भाई भाई के प्राणों का गाहक बन बैठा !
लाल-लाल लो लोचन लेकर, दाँत पीस, भौंहें टेढ़ी कर
रे, भाई भाई के खूँ की प्यासी खंजर ले, तन बैठा !
ताल ठोक कर भिड़े हाय, वे दोनों भाई
और एक ने लप-लप करती छुरी दिखाई !
अरे, बन गए दोनों ये तो लो, विप्लव साकार
हँसी-हँसी में, खेल-खेल में कैसा हा-हाकार !

. .

धर्म

युद्ध-भूमि बन गया हाय, यह आँगन घर का !
लोहू में रँग गया पूत कण कण वह घर का !!
भाई ने भाई की छाती में छूरी दी भोंक !
अट्टहास कर उठा धर्म उनको ज्वाला में झोंक !!
देख रहे ये धर्म-धुरंधर खड़े-खड़े, टकटकी लगा !
उन्हें पराये की चिन्ता क्या-जिन्हें सहोदर नहीं सगा?
कहते हैं ये—'जन का जन से लड़ना जग में घोर पाप है !'
पर उर में उनके आपस के वैमनस्य का घोर ताप है !
जिसकी ज्वाला में जल-जल वे स्वयम् भस्म हैं हुए जा रहे
विश्व-शांति तो दूर, यहाँ गृह की अशांति का ही विलाप है !

धर्म के साधन मे हा, आज
बने भाई भाई का काल !
डसे भाई को बन कर व्याल !!
पिए शोणित को जीभ निकाल !!!

जिसे मैं पुकारता हूँ 'राम'
उसे वह दे 'रहीम' का नाम !
इसी पर तो विराट विभ्राट
चला करते इनमें अविराम !
शमित होती भाई का रक्त
पान कर यह ज्वाला उद्दाम !

एक धर्म पर छिड़ जाता है यहाँ घोर रण।
एक धर्म पर रक्तपात होता है प्रति क्षण !!
जलता है जो अन्तराल में धर्मानल विकराल
उसमें प्रति पल जलते हिन्दू और यवन-मन !

× × ×

धर्म ! हो तेरा सत्तानाश !
धर्म ! है पाशव तेरा पाश !
स्पर्श करले जिन प्राणों को
उन्हें लगती शोणित की प्यास !
बुझाते हैं शोणित से उसे
धर्म ! वे तेरे अन्धे दास !

धर्म ! तुझको ये तेरे भक्त
अर्घ्य देते शोणित से आज !
चीर कर परधर्मी का मांस
और उसकी हड्डी को पीस—
चढ़ाते हैं चरणों में भेंट
प्राप्त करने तेरी आशीस !
धर्म ! तू पाप ! और ये भूत !!
गिरे दोनों के शिर पर गाज !

× × ×

धर्म ! तेरे पावन आचार्य्य !!
उन्हें आती है अब कुछ लाज ?
अरे, बर्बर ! दुर्वृत्त !! अनार्य्य !!!
उन्हें दुर्लभ रौरव भी आज !
मिलें वे आज खींच लें खाल
न थे वे स्वर्ग दूत-थे काल !
यहाँ देखें वे आकर आज
धर्म का रूप जघन्य, कराल—

क्षण भर का छोटा-सा जीवन !
उसमें भी कितना उत्पीड़न ! कितना भीषण रोदन-क्रन्दन !!
उर-उर कलह-कपट, घट-घट में अघ, पाखण्ड, छद्म, छल, वंचन !
मन-मन में निष्ठुर निर्दयता, दृग-दृग में नृशंसता-नर्तन !!
क्षणभंगुर पापिष्ठ धर्म के लिए पाशविकता का दर्शन !!!

वह देखो, वह कौन देव-मंदिर की सीढ़ी से लुढ़की?
अरे, नृशंस प्रहार करों के स्त्री पर! अलम् न थी घुड़की?
(देव द्वार पर गाली खाती, खिंचवाती अपनी चोटी!
इससे तो अच्छा बूचर से नुचवाती बोटी-बोटी!!)

जहाँ देखिए वहीं घात-प्रतिघात और बर्बर संघर्षण,
क्षण-क्षण हा-हाकार, विकट संहार, विनाशन, प्राणापहरण।
धर्मसिद्धि के हित संसृति के अकलुष नियमों का उल्लंघन!
यों अनियंत्रित और असंयत दुर्भावों का नग्न प्रदर्शन!!—

"उन्हें न छूना! अरे, पूत तुम, वे अछूत हैं!!"
जैसे तुम तो देव और वे दैत्य-भूत हैं!
जैसे उनके और तुम्हारे प्राण भिन्न हैं।
धुले दूध के तुम, वे जैसे पंक-क्लिन्न हैं!!

इन्हें न छूना अरे दम्भियो, लग जाएगा पाप !
वे हैं आग! कि जिनको छू तुम बन जाओगे भाप!!
"दूर सरक रे, तुझ से मेरा छू जाएगा पानी !"
अरे, धूल में मिल जाएगा तू खुद ही अभिमानी !
"अरे, कौन तू!" "मैं चमार हूँ." दूर चल रे नीच!
नहीं, आज इन हाथों तेरी लूँगा चमड़ी खींच !!

अरे, चमार न होते, तेरे पग में छाले पड़ते !
भंगी होते नहीं, घरों में कीड़े पड़ते, सड़ते !!
अपने ही अपुष्ट अंगों का अपने ही दशनों से दंशन!
दीन-दलित-जनके शोणित से अपने वैभवका चित्रांकन
भाई के उर का भाई के उर से यों बर्बर संघर्षण !
अपने परिपोषणके मद में हा! उनका यों शोषित कर्षण!
अपने भाई के शोणित से रे जन! तूने तन को सींचा!
दोनों हाथों तूने रे, यह कैसा भीषण पाप उलीचा!!

× × ×

अहो मुहम्मद! आज तुम्हारा मुसलमान भूला क़ुरान को,
ऋषियो! हिंदू जला चुका है अपने वेदों को-पुराण को,
भूल गया है 'सत्य-अहिंसा' महावीर! यह जैनी भाई,
और बाइबिल की आज्ञाएँ भुला चुका ईसा! ईसाई

जिह्वा-छुरियाँ चला आज आपस में लड़ते
लगा-लगा प्राणों की बाज़ी आज झगड़ते!
हाँ, सीखे तो सीखे-पीलें कैसे खून विधर्मी का?
मार-मार कर करें कलेजा कैसे शान्त स्वधर्मी का?

इत्तहाद के वृहद् विटप की छाया से हैं दूर भागते,
विधर्मियों के प्राण चुराने को हैं ये दिन-रात जागते!

× × ×

शंखनाद

ऐ संस्कृति के सूत्रधार ! रे, यह कैसा नाटक तेरा ?
तेरा 'धर्म' न हो जाए यह आज कहीं अंतक तेरा !
तेरे इस पापिष्ठ धर्म से आज प्रलय भी लज्जित है !
सर्वनाश की लपटों में जग जिसने किया निमज्जित है !!

भीषण अंक-दृश्य की तेरी रचना यह विभीषिका है !
छोड सूत्र, इस नाटक की बस गिरती अभी यवनिका है!!
'धर्म' उठाले अपना, होगा जग स्मशान अब क्षण भरमें!
आ लपेट ले इसको अपनी महाप्रलय की चादर में !!

कामना

मुझे मा, दलितों के दृग से ढलती
आंसू की बूंद बना !

१

धूल में मिलकर तेरी आज
पाप-पावन हैं जिनके अंग
वहाँ कैसे होगा है अम्ब !
पातकों का, अघ का अभिषंग ?
त्याग-ज्वर में तप तप कर जननि,
होगए वे स्वर्णाभमना !
मुझे मा, दलितों के दृग से ढलती
आंसू की बूंद बना !

२

जगत की सेवा कर निष्काम
बने हैं जो अकलुष—अकलंक—
चरण—रज उनकी छू कर जगत
भला रह जाएगा क्या रंक ?
मोल है जिनका जग में नहीं,
बोल है जिनका स्नेह—सना !
मुझे मा, दलितों के दृग से ढलती
आँसू की बूँद बना !

३

भ्रम, छल, दम्भ, कपट, पाखण्ड,
प्रतारण से रह सतत अछूत,
अहिंसा और सत्य से पूत
आज ये सजग स्वर्ग के दूत !
हृदय पर उनके मैं सर्वस्व
चढ़ा दूँ मुक्ता बन अपना !
मुझे मां, दलितों के दृग से ढलती
आँसू की बूंद बना !

भिक्षा

देते हो तो यह भिक्षा दो लेकर हमें शरण्य! शरण

पथ में कंटक भी पड़ते हों

जो मज्जा तक जा गड़ते हों!

किन्तु रक्त रहते बढ़ते हों,

जो चल न हों अनलपर चलकर करदो ऐसे अचल चरण!

देते हो तो यह भिक्षा दो लेकर हमें शरण्य! शरण

सम्मुख घोर घटाएँ आएँ,

छाएँ शिर पर लाख बलाएँ,

विपताएँ उर से टकराएँ,

आशा की सज्ज्योति किंतु करदे विपत्ति-तम-तोम-हरण!

देते हो तो यह भिक्षा दो लेकर हमें शरण्य! शरण

तृष्णा रोक रही हो बल कर—
धर कर प्राणों को करतल पर;
होता हो पर हम पलपल पर
एक ओर हो यदि जीवन तो रहे दूसरी ओर मरण!
देते होतो यह भित्ता दो लेकर हमें शरण्य! शरण
लो, जाग्रति अब बढ़ा रही कर
हम भी सब प्रण प्याले पीकर
जूझ पड़ें जय जय कर जी भर
देदो निज विभूति कर लेगी विभो! हमें तो विजय वरण
देते हो तो यह भित्ता दो लेकर हमें शरण्य! शरण

अरी ओ मर मिटने की प्यास !

आज भड़क उठ इन पागल प्राणों में री सोल्लास !
अरी ओ मर मिटने की प्यास !
हम अर्जित सर्वस्व खो चुके
अपना धन-बल क्या न रो चुके
आँसू के अगाध अम्बुधि में
अपने गौरव को डुबो चुके
अब न रहेंगे बहुत रह चुके हम जड़ता के दास !
अरी ओ मर मिटने की प्यास !!

आज अनोखा शंख बजा है !
परिकर-बद्ध अनीक सजा है !
देख गगन का चुम्बन करती
फहराती उत्तुंग ध्वजा है !
होने वाला है पल भर में आज प्रलय का लास
अरी ओ मर मिटने की प्यास !!!

उपालम्भ

देखो मा, इनने क्या गाया !
तेरी आकुल घड़ियों में भी इनने कैसा वीन बजाया !

इनके कानों ने न जनों के उर-उर का क्रन्दन देखा,
जीवन का संघर्ष न, और न, प्राणों का कम्पन देखा,
देखा जठरानल न ग़रीबों का, न रक्त शोषण देखा !
घर-घर में न यहाँ विभीषिका का भीषण नर्तन देखा !

कलित कल्पना के तारों का इनने हाय, सितार सजाया !
माया गा काया क्या इनने कलुषमयी हा, करली छाया!!
देखो मा ! इनने क्या गाया !

उपालम्भ

इन्हें न झुलसाने पहुँची क्या जननि, जठरकी यह ज्वाला?
म्रियमाणों के मुँह न इन्होंने अमृत—हलाहल जो डाला!
कब देखा किसके भूखे हैं ?—कब देखा किसके प्यासे ?
माया गा-गा कर कवि ! तूने आँखों में डाला जाला !

उस अनन्त के पथ को खोजा, दीनों से सम्बंध छुड़ाया !
सोता जगत जगाने को मा' कवि लो मधुप्याला भरलाया!!
देखो मा ! इनने क्या गाया !

कलित-कल्पना-लोक-लुब्ध ये, करें सत्य दर्शन कैसे !
स्वर्णिम पंख लगा कर उड़ते देखें ये बन्धन कैसे ?
ये अनन्त में उड़े जारहे, आँखें फिर क्या घर देखें !
कान सुनें सकरुण पुकार, जब जन-जन का अन्तर देखें

जाल-लुब्ध हैं जो उनके हित क्यों यह वाणीजाल बिछाया ?
इसीलिए क्या इनने जननी, गाने का अधिकार कमाया ?
देखो मा, इनने क्या गाया !

ये ऐसे कैसे बदलें ? जो सुन न सकें मा की वाणी !
इसीलिये क्या दुर्लभ सी है वह स्वतन्त्रता कल्याणी ?
अपनी ही मा के लालों की इनने गिरा न पहचानी !
किसके लिए गा रहा यह सब, कौन सुनेगा रे मानी ?

कवि है तू? छिः!हाय, प्राणसे प्राण अभिन्न नहीं कर पाया
मत अभिशाप कमा! कवि ने है कभी नहीं आदर्श भुलाया!!
देखो मा, इनने क्या गाया !

' यह विश्वासघात है! ' मा का क्या न मूक सन्देश सुना?
कहलाओगे लाल उसी के, इसका कुछ भी अर्थ गुना ?
आँखों के अमूल्य मोती ये बिखर रहे धीरे-धीरे
पुण्य मार्ग को छोड़ अरे कवि ! क्यों तूने यह पाप चुना?

अरे, भारती भारत की गा, जिसने यह गाना सिखलाया !
रे, समेट ले तेरी कविता, जिसने तमिस्र बादल छाया !
देखो मा, इनने क्या गाया !

* * *

निषेध

रूखी-सूखी दो रोटी खा
अधभूखे रहने वालों को—
घोर व्यथा सह, मन मसोस रह,
कभी न कुछ कहने वालों को—
अपनी करुण रागिनी मन ही
मन में गा लेने वालों को-
आँसू से अपने अन्तर की
आग बुझा लेने वालों को-
देख-देख कर रो न उठे जो,
पिघल न जाय दया से भर
दे दो चाहे सब दुर्गुण, पर
प्रभो, न दो ऐसा अन्तर

देख—बिलबिलाते बच्चों को,
—जरा-जीर्ण-जर्जर अंगों को,
—कभी ठिठुरते, कभी तड़पते—
तपते उन भूखों-नंगों को,
—विधवा माँ के फटे-पुराने
चिथड़ों में लिपटे बेटों को,
—रोती आँखों और रीढ़ की
हड्डी तक चिपटे पेटों को,
वह न जाय आकुल आँखों की
राहों से जो गल-गल कर
दे दो अन्य सभी दुर्गुण, पर
प्रभो ! न दो ऐसा अंतर

निषेध

भारत-माता के दुर्दिन की
चक्की में पिसते लालों को—
उसके बँधे विवश हाथों को—
नत शिर के बिखरे बालों को—
लख कर—छाया-सी काया को,
मौन व्यथा कहती आँखों को,
इन सूखी आँखों से उसकी
भीगी आँसों की पाँखों को
उसकी हृद्भेदी चीख़ों को
कातर वाणी को सुन कर
फट न जाय जो वहीं व्यथा से
प्रभो ! न दो ऐसा अन्तर !

❀ ❀

केसरिया बाना पहनादो

(१)

सां, क्यों देख रही हो भीगी आँखों से इस ओर अहो !
अपने उच्छ्वासों से उर में उठा रहीं घनघोर अहो !
बिखरे बाल ! करों में कड़ियाँ ! वाणी भी है मूक बनी !
देख तुम्हारे शुष्क अधर सालती हृदय को हूक-अनी !

नहीं सुन रही हो क्या स्वर "जननी, प्रताप से वीर बनादो
शिर पर धरदो हाथ, वपुष पर केसरिया बाना पहनादो"

(२)

तेरी पूत कोख से उपजे, तेरी अमल धूल में खेले,
तेरी लाड़भरी गोदी में हमने सुख भोगे, दुख झेले,
एक साथ हिन्दू-मुस्लिम ने तेरे पय का पान किया है;
दोनों को समान ही तूने अपना प्यार प्रदान किया है!

आज पुण्य अवसर कहता है "भाई हो, जग को दिखलादो
एक दूसरे को तुम दोनों केसरिया बाना पहनादो"

(३)

मुस्लिम दौड़े शस्त्रगृहों से और जिरह-बकतर लाए,
हिन्दू गये धनंजय ही के धनुर्बाण लेकर आए,
लो, अब तो जुट गईं कृपाणें, भाले, बरछी, परिघ, कटार!
हिन्दू-मुस्लिम बढ़े, गले मिल कहा-"बन गये एकाकार"

हिन्दू बोले, "बन्धु! हमें रण मध्य जूझ जाना सिखला दो
बोले मुस्लिम, "आर्य्य! हमें तुम केसरिया बाना पहना दो"

(४)

जननि ! तुम्हारे हिन्दू-मुस्लिम दोनों बड़े लड़ैते लाल !
आए प्राण निछावर करने मिल कर तुम्हें झुकाते भाल
अम्ब! लगातो दो निज करसे आज कलित केसरिया टीका
कहो, 'तुम्हारा मुख हो उज्ज्वल और विरोधी का मुख फीका"
स्वयं समर देवी बन कर मा ! समर रागिनी हमें सुनादो
सुन कर जड़ पाषाण कह उठें, 'केसरिया वाना पहनादो'

(५)

रोम रोम गा उठे गरज कर-' केसरिया वाना पहनादो '
जिधर सुन पड़े, यही सुन पड़े-'केसरिया वाना पहनादो'
घर-बाहर, नीचे-ऊपर, सर्वत्र यही माँ, रव बिखरादो,
यदि कुछ भी सुन पड़े, यही बस-'केसरिया वाना पहनादो'
घोर क्रांति के बादल छाकर जाग्रति की वर्षा बरसा दो
'रिमझिम' में सुन पड़े यही स्वर-'केसरिया वाना पहनादो'

* * *

बढ़े चलो

(१)

बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे वीर ! निरन्तर बढ़े चलो
अपने इन बलिष्ठ पावों से गौरव-गिरि पर चढ़े चलो,
बाधाएँ तो आएंगी ही, रोक सकेंगी कब तुमको ?
अन्धकार में से प्रकाश की भाँति अबाधित कढ़े चलो !

जब तक अपना ध्येय न पालो तुम थकने का नाम न लो
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक ! निरन्तर बढ़े चलो

(२)

मत झिझको समझ यदि अपने मूर्त्त प्रलय आया देखो,
तुमतो अपना लक्ष्य सामने औ' अपनी काया देखो,
अथवा अपनी काया को भी उस क्षण विस्मृत कर डालो,
ठहर न जाओ कहीं जहाँ पर हरी भरी छाया देखो!

शत शत मधुर प्रलोभन पाकर भी न नियत पथ से विचलो
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक! निरन्तर बढ़े चलो

(३)

अपने दृग को दृग न समझ लो इसको चण्ड अनल जानो,
और भुजा को भुजा न कह दो इसको वज्र प्रबल मानो,
अपने पद को पद समझा तो कण्टक भी गड़ दुख देंगे,
बिंधा समझलो उसे कि जिस पर निश्चय का शर संधानो;

क्या कंटक, कंकड़, पत्थर, गिरि-सबका फिर अभिमान मलो
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक! निरन्तर बढ़े चलो

(४)

मत झुक जाओ देख प्रभंजन, गिरि को देख न रुक जाओ,
और न जम्बुक में मृगेन्द्र को देख सहम कर लुक जाओ,
झुकना, रुकना, लुकना ये सब कायर की-सी बातें हैं ,
बस, तुम तो वीरों में निज को बढ़ने को उत्सुक पाओ—

अपनी अविचल गति से चलकर नियति चक्र की गति बदलो
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक ! निरन्तर बढ़े चलो

(५)

हो सिर पर विपदा का बादल, सम्मुख संकट-शैल अड़ा,
चारों ओर विकट मुँह फाड़े हुए तमीचर-तोम खड़ा,
गरज-गरज तूफ़ान पार्श्व में करता हो निज भ्रू-चालन
तो भी तुम न हृदय दहलाना, थामे रहना उसे कड़ा;

स्वयं मृत्यु भी हो तो उससे बढ़ कर आलिंगन कर लो !
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक ! निरन्तर बढ़े चलो !

(६)

कर्मवीर का धर्म—'कर्म को करते रहना जीवन भर'
तुम्हें इष्ट है, तो तुम कैसे निष्क्रिय होते हो क्षणभर ?
हाँ, यदि जाड्य-तिमिर में तुमको दृग्गत होता मार्ग न हो
तो उसके हित आमन्त्रित हो आत्मा का आलोक प्रखर

तुमको छलने आए छलना, तुम निश्छल हो उसे छलो !
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक ! निरन्तर बढ़े चलो !

(७)

चलते-चलते पथ पर चाहे पादांगुलियाँ साथ न दें
हों निष्क्रिय भुजवज्र तुम्हारे, काम, थकित हो हाथ, न दें
एक रक्त का कण रहते भी किन्तु न तुम हत-आश बनो
कायर जन देंगे क्या ? कर्मठ यदि संकट में साथ न दें ;

चिर सुख की आशा में क्षणभर क्षणभंगुर दुख भी सह लो !
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक ! निरन्तर बढ़े चलो !

(८)

चाहे पड़ें पहनने शीशों पर काँटों के ताज तुम्हें,
हिम में गलना भी हो, सहना पड़े वक्ष पर गाज तुम्हें,
और कौन जाने किस-किस से लड़ने का संयोग पड़े?
पर यह निश्चित है-कि मिले कल विजय, नहीं यदि आज तुम्हें!

जीवन को लघु समझ, प्राण करतल पर धर सोल्लास चलो!
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक! निरन्तर बढ़े चलो!

(९)

वह प्रकाश का सद्म जहाँ पर तुम्हें अन्त में जाना है,
सौख्यालोकित दिव्य ध्येय वह जिसे अन्त में पाना है-
दूर नहीं है, पथ में गहरा माया-सा कुहरा छाया,
और यत्न करने को दुख पाना भी एक बहाना है;

विकट शिलाएँ तोड़-फोड़ कर सुख से फूलो और फलो!
बढ़े चलो, बस बढ़े चलो, हे युवक! निरन्तर बढ़े चलो!

जग की ओर जाते हुए से—

ओ आतुर गामी ! द्रुतपद !! ओ अगम पंथ के विकट पथी !!!
ठहरो, मुड़ जाओ, जाते हो तुम जग के सन्निकट पथी !
माना, तुम हो अटल, मनस्वी, अविचल, प्रौढ़प्रतिज्ञ पथी !
किन्तु अभी हो माया की मृग-तृष्णा से अनभिज्ञ पथी !

कर्त्तव्यों की कठिन पहेली, भ्रम का झंझावात पथी !
महा निराशा, व्यथा वेदना घात और प्रतिघात पथी !
पग-पग पर हैं बिछे जगत् के पट पर जीवन-मरण पथी !
जाते हो पर फूँक-फूँक कर धरना अपने चरण पथी !

जग की ओर जाते हुए से

जग क्या है ! नश्वरता निशाचरी का मायाजाल पथी !
जो मरने से डरते हैं, जग उनको काल कराल पथी !
जिसके भुज में बल, दृग में द्युति, उसे सभी कुछ सुलभ पथी !
और उसी का रहना है दुख में भी उन्नत भाल पथी !

जिसने जाना जग में आकर अपने को असमर्थ पथी !
सभी भाँति उस जड़ जन का है जग में जीवन व्यर्थ पथी !
क्योंकि पतन के ढालू पथ पर फिसला ज्योंही पाँव पथी !
कभी न सँभला जन, यों आया वह न किसी के अर्थ पथी !

स्वयम पतित होकर कर लेगा वह किसका उन्नयन पथी !
परायत्त जीवन पाकर फिर होगा क्या क्या सह्य न पथी ?
ऐसे दुखमय जीवन से तो सुखमय पावन मरण पथी !
जिन्हें समझते परवश जीवन को संसृति के नयन पथी !

शंखनाद

वह वरिष्ठ जीवन! सदैव जो रहे स्ववश, स्वाधीन पथी !!
मरणोपम है रहना जग में नतशिर, निर्बल, दीन पथी !
जीना यों अथवा मर जाना होने चिर स्वच्छन्द पथी !
दो ही रखना ध्येय जगत् में, नहीं कभी भी तीन पथी !

अछूत

कह रहा क्यों जग इन्हें हा ! दलित और अछूत !
कहो होगा कौन इनसे अधिक बढ़ कर पूत ?

(१)

एक कायाकार, क्या वे रूप में असमान !
एक ही भू-नभ-जलानिल-अनल के वरदान;
एक ही मैं हैं हमारे और उनके प्राण,
हाय रे, तद्रूपता में भिन्नता का भान !
पुण्य में तुम हो अछूते, बने फिर भी पूत !
वे अछूते अघों से, पर हुए दलित-अछूत !

(२)

हृदय में हैं लोक सेवा के पुनीत विचार !

अहो, जीवन है कि है साकार पर-उपकार ?

क्या तुम्हें प्रभु कम, तुम्हें कुछ अधिक करता प्यार ?

क्या हुआ फिर भिन्नता का, भेद का आधार ?

एक पुत्र अछूत है पर दूसरा चिर पूत !

कौन कहता है कि वे हैं दलित और अछूत ?

(३)

उदित जिनमें पाप-पावन जन्हुजा की धार—

उन्हीं में उत्पन्न हो वे बन गए भू भार ?

करों से जिसके हुआ उनका अहो, निर्माण—

देख सकेंगे क्या न वे उस शक्ति का आकार ?

हुए वे सुरसरी—से अच्युत—चरण—संभूत !

क्यों इन्हें संसार कहता दलित और अछूत ?

(४)

हैं विनीत, सुशील, शुचि वे मितभाषी, शिष्ट
है तुम्हें स्वामित्व, उनको दासता निर्दिष्ट !
काट निज अविमल विकृत पद फेंकता है कौन ?
रे, नहीं हैं आज हमको अग अपने इष्ट !
हन्त, हिन्दू धर्म ! बनता स्वर्ग का तू दूत !
दैत्य है तू ! दनुज है तू ! पाप है तू ! भूत !

(५)

उन बिना तो स्वार्थ संयुत इस जगत् में आह !
हो सकेगा क्या तुम्हारा लेश भी निर्वाह ?
क्या नहीं पद भी भला हमको चलाते राह ?
चाहते हैं जो हमें, हमको न उनकी चाह !
फल कुटिल इसका न अब भी क्या हुआ अनुभूत?
वे नहीं थे, हैं न होंगे दलित और अछूत !

स्वातंत्र्य से

स्वातंत्र्य! तुम्हीं को पाने को हैं आतुर रहते प्राण यहाँ!
कब कहो तुम्हारे हाथों से होगा अभिषेक-विधान यहाँ?

कुछ हरे-हरे कुछ लाल-लाल
किसलय के मृदु परिधान पहन
आती है मधुऋतु मंजु यहाँ
कर मलयानिल का भार वहन—
खिल उठतीं जिसका चुम्बन पा
वन-उपवन की कोमल कलियाँ,
विकसित सुमनों के अधरों पर
क्रीड़ा करती उल्लास-किरण;
आता है कोकिल छेड़-छेड़ जाता है मधुमय गान यहाँ!
पर नहीं गूँजती कभी तुम्हारी वीणा की मधुतान यहाँ!!

[२]

खलता है किसे नहीं 'कल कल'
स्रोतस्वतियों का दुःखद स्वर ?
रोते रहते हैं सिसक–सिसक
क्षण-प्रतिक्षण झरझर कर निर्झर!
फटती है छाती वसुधा की
सह पाती वह भी कष्ट कहाँ ?
चुभ-चुभ कर उर में खर-शर-सा
बहता जाता समीर सर सर;
जड़-जीवों तक के भी तो हैं कैसे बंधनमय प्राण यहाँ!
कवि क्या गाए? है लघु-असुक्त जब वातावरण-वितान यहाँ!

[३]

है तुम्हें खोजते प्राण वहाँ
पार्थिव पंजर से उड़-उड़ कर,
लो, देख रहे हैं अविचल मग
भारत के दृग जग अष्ट-प्रहर;
हृद्तंत्री झंकृत हो गाती
मृदु आवाहन के गीत करुण
आओ, तो क्षणभर ही करले
तेरा दर्शन जीवन नश्वर !
स्वातंत्र्य, न आओगे क्षणभर क्या लेकर स्वर्णविहान यहाँ?
भरजाओ आकर जड़कण के भी कण्ठों में मधुगान यहाँ!

[४]

आओ, मधुवर्षण कर हर लो
यह अन्तराल की आग निठुर,
फूलें स्वच्छन्द सुमन वन में
लेकर पराग से मण्डित उर !
फिर भारत-भू के रोम-रोम से
छलक पड़े मुद की धारा !
जल-थल से, नभ से फूट पड़े
प्रिय स्वतन्त्रता का राग मधुर !
आँखों से ओझल हो जाए फिर पारतंत्र्यमय प्राण यहाँ,
अंतर के भी अंततम से फूटें फिर आह्लाद गान यहाँ!
स्वातंत्र्य! गान में भर जाओ आकर अपने नव प्राण यहाँ!!

❀ ❀

स्वतंत्र संसार

चलो, आज रच लें हम चलकर नव स्वतंत्र संसार प्रिये,
जहाँ प्राण से प्यार नहीं हो,
द्रव्य जीवनाधार नहीं हो,
आशाओं—आकांक्षाओं पर
नियंत्रणों का भार नहीं हो,
जहाँ जीवनोत्सर्ग-करण के हों उद्भूत विचार प्रिये,
चलो, आज रचलें हम चलकर नव स्वतंत्र संसार प्रिये,

स्वतन्त्र संसार

जहाँ न कृति-कृति पर बन्धन हो,
तन-मन-धन पर प्रतिबन्ध न हो,
हो स्वच्छन्द गन्धवह---मण्डल
पराधीनता की गन्ध न हो,
जहाँ रह सकें अक्षत अपने जन्म सिद्ध अधिकार प्रिये,
चलो, आज रच लें हम चलकर नव स्वतंत्र संसार प्रिये,
बस स्वदेश ही धर्म जहाँ हो,
कर्मशीलता कर्म जहाँ हो,
अधिकारों पर मर मिटना ही,
मानवता का मर्म जहाँ हो,
वहाँ प्राप्त कर लेंगे चलकर अमृतत्व का सार प्रिये,
चलो, आज रच लें हम चलकर नव स्वतंत्र संसार प्रिये!

कवि

मूर्च्छित प्राणों पर छा जाता
जब जड़ता का उन्माद मधुर,
तंद्रिल-स्वप्निल मादकता की
मधुछाया में सो जाता उर,

जब मधुर विलास-निशीथ जान
सालस होते मन-वपुष-प्राण,
अन्तर के रोम-रोम को जब
आ चुम्बित करते मदन-बाण !

जब दृग के आगे घिर आता
विभ्रम - तमसा का तम निष्ठुर,

तब ऊषा-सा आलोक जगा
प्राणों का जाग्रति-शंख फूँक
हर लेता, मूर्छा-व्यूह भगा
आँखों का धूमिल अन्धकार

वह रवि हूँ !
मैं कवि हूँ !

कवि

ले शोणित-बिन्दु शिराओं के
निश्चलीभूत, निस्पन्द, विफल,
उर की जघन्य निश्चेतनता,
ले दृग की अश्रुधार अविरल,

प्राणों का चिर अवसाद मिला,
धी का व्यामोह-प्रमाद मिला,
जीवन का विकलोच्छ्वास मिला,
धीमी धड़कन का नाद मिला,

हवि बनवा कर इस मिश्रण का
मैं प्रस्तुत करता होता-दल;

फिर करता हूँ अपना चाहा
आयोजित शुचि जागरण—सत्र,
इसमें मैं नवयुग गा—गा कर
उन हाथों करवाता स्वाहा

यह हवि हूँ,
मैं कवि हूँ!

घन-घटा देख कर अम्बर की
छाती पर उमड़-घुमड़ छाती
जब साक़ी के आवाहन में
हों आँखें जग की मदमाती,

हों मद में ओतप्रोत नयन,
प्राणों का हो प्रणयप्रणयन,
हो बन्धन में अवरुद्ध—लुब्ध
निर्बन्ध जगत् का मनोन्नयन,

जब उस खुमार में लुट जाए
धाता की प्राणों सी थाती,

तब चमका निज असि की धारा
उस स्तेन, लुटेरे, धर्षक को
मैं कर दूँ संकटग्रस्त—त्रस्त,
जाग्रत उन्मद को, मादक को

वह पवि हूँ,
मैं कवि हूँ!

जब घ्राणेंद्रिय को महा पतन
की आए भीषण घ्राण यहाँ,
अन्धड़—तूफ़ान निराशा का
जब लगे घोंटने प्राण यहाँ,

हो जड़ीभूत जग की काया,
उद्भ्रान्त कर रही हो माया,
जब उसे निगलने चले राहु
लेकर अपनी छलना-छाया!

आपद् की आँधी गरज बधिर
जब करे जगत् के कान यहाँ,

विप्लव-अशान्ति की बढ़े बाढ़
मेरे जग का हो श्वास रुद्ध,
तब मैं अनलस, चेतन, प्रबुद्ध
देता हूँ छाती बढ़ा, अड़ा

वह अवि हूँ,
मैं कवि हूँ!

शंखनाद

जब होते आकुल प्राणों के
रोदन में डूबे हास-गीत
अधरों के अस्फुट स्पन्दन में
लय गौरव के उल्लास—गीत,

होते न अनावृत कर्णद्वार
जब अन्तर की सुनकर पुकार,
जब वाणी में दृगत होता
उर-अन्तराल का अन्धकार,

रो पड़ती गिरा स्वयम् अपने
सुन-सुन चिरम्लान उदास गीत,

जब शब्दजाल में लुब्ध कलम
बस चीख चीख उठती केवल,
तब 'सत्य-शिवम्-सुन्दर' गा कर
जग-वाणी में भर देता बल

वह कवि हूँ !
मैं कवि हूँ !!

सुन कर्त्तव्यों का आवाहन
जब व्रती वीर बढ़ते पथ पर
निज वज्रबल से चीर शैल,
पद से पथ-कण्टक-दल दल कर,

फिर उनके प्रति प्रति पद-प्रहार
पर होती भू भी कम्पमान !
नभ भी जिनके अभिनन्दन में
गाता गुंजित हो विजयगान !

फिर हो जाते जो अमल हेम
खर विपदानल में तप-तप कर,

तब स्वयं स्वर्ग का पुण्य हास
दीपित होता उनके मुख पर;
मैं अपने मंगल—गीतों से
कर देता तब उनकी द्युततर

मुख-छवि हूँ,
मैं कवि हूँ !

तुम्हारे जन्म-दिवस पर

कृष्ण ! भारत के आहत प्राण कर रहे आज तुम्हें आह्वान
लिये युग-युग से आशाएँ उरों में, आँखों में अरमान,
लिए ओठों की कोरों पर
हमारी करुणा-पूरित गाथ !
देख-देख भादों की रातें उठ आए नयनों में छाले !
तनिक पसीजे किन्तु न तुम हा, पड़े यहाँ जीवन के लाले !
किधर अरे, सो किधर गए भारत के दक्षिण हाथ !
किधर गये अब छोड़ निठुर ! भीषण संगर में साथ !
बना कर उसको दीन अनाथ
कि जिसका अम्बर से भी उच्च
कभी मणि-मुकुट-युक्त था माथ !
आज पर है हतकांति, सधूल !!

(२)

खड़े थे हथियारों को थाम उभय पक्षों के वीर सकाम,
शंख ध्वनि से गूँजा था व्योम मचा था जब भारत संग्राम,
कहा था किसने भारत से
शंखध्वनियों के बीच ?
" होगी जब जब ग्लानि धर्म की, पापों की अभ्युन्नति होगी,
होंगे संकट-ग्रस्त साधु जन, महापातकी वसुधा-भोगी,
तब आऊँगा मैं सूखी आशाएँ दूँगा सींच
भूलूँगा प्रण नहीं, नहीं करुणा-कर लूँगा खींच "
नहीं लूँगा आँखों को मीच !
कि जिनकी ज्वाला से हो गए
भस्म क्षणभर में कौरव नीच !
किन्तु तुम आज गये प्रण भूल !

(३)

धर्म का नहीं हुआ अपकर्ष ? नहीं क्या अघ का अभ्युत्कर्ष ?
नहीं क्या भारत पर आ पड़ा जनार्दन ! आज दुःख दुर्धर्ष ?

आज भारत पर इतना रोष

और दुर्गति पर हर्ष अपार !

देखो तो आ आज दयामय ! कहती क्या गीता की पोथी,
क्या पोली है नींव प्रणों की और सत्य की गाथा थोथी ?
नहीं हो रहे हैं हम पर क्या क्षणक्षण प्रबल प्रहार ?
अरे चतुर ! गिरने ही के पहले करलो उपचार,

निष्फल होगा फिर तो अवतार
कि जिसका सुनकर ही सन्देश
जी पड़े थे हम सौ सौ बार
प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल !

(४)

वही भादों की काली रात, वही शृंखला, वही आघात,
वही विपदाओं की वर्षा, वही शंका से थर-थर गात,

वही माता का क्रन्दन करुण,

वही दृढ़-निर्मित कारागार!

देखेंगे यदि टूट पड़ेंगी सहसा हाथों की हथकड़ियाँ
रुक जाएँगी माँ की आँखों से आँसू की अविरल झड़ियाँ
देखेंगे कैसे 'कड़कड़' कर खुल जाएँगे द्वार?
सुन लेंगे हम भी नीरव निशीथ में जय-जयकार।

दूर होगा लोहे का भार
कि जिससे बनते हैं हथियार
और खूनी नागिन तलवार!
तथा शंकर का उग्र त्रिशूल?!

* * *

भारत का कैसा हो वसन्त ?

भारत का कैसा हो वसन्त ?
जड़ता-प्रमाद का क्षितिज फोड़
हो उदित उषा-द्युति निष्कलंक !
पुण्यां शुभालि-कर छू ललाट
धो जाय पुरातन पाप-पंक ।
जीवन-जाग्रति की अँगुली से
झंकृत हों तन के रोम-तार,
वैभव-शिशु की कल-क्रीड़ा से
हो पुलकित अमराराध्य अंक ।
हों हत दुरंत दुख-दैन्य-दन्त, दृग-द्युति से आतंकित दिगंत
भारत का ऐसा हो वसन्त ।

भारत का कैसा हो वसन्त

" अपनेपन " की लघु परिमिति से
हों अब न बद्ध मन–हृदय–प्रान।
गावें स्वरैक्य से अमर गीत
इंजील, वेद, गीता, कुरान।
हों हृदय–प्रान–मन–तन अभिन्न
अभ्युदय–उपासन–ज्ञान–मान।
पैंतीस कोटि प्राणों से हो
सम्पन्न मातृ–पूजन–विधान।
बस जगे उरों में एक ज्योति जिससे हो आलोकित अनंत
ऐसा हो भारत का वसन्त।

अपने विराट् 'अपने पन' में
हो जीवन की 'परता' विलीन।
ये पीड़ाओं के पाश हटें—
प्रतिबन्ध जीर्ण–जर्जरित–क्षीण।
चिर–तन्द्रिल नयनों के समक्ष
हों स्वर्ण—स्वप्न प्रत्यक्ष सत्य,
गत हो वह पंकिल नैश तिमिर
विकसित हो पावन युग नवीन।
सागर से सागर तक फहरे नव-विजय-वैजयन्ती वसन्त!
भारत का ऐसा हो वसन्त।

रक्तिमा तुम्हारी बने आज
नस-नस-की यह अभ्युदय-आग।
लाकर स्वतन्त्रता का अनिन्द्य
छिड़को कर से सुषमानुराग।
पिक का "वन्देमातरम्" गीत
फैला दे बह कर सुख—समीर,
भारत का सोया स्वर्ग जिसे
कर श्रवण स्वयं ही उठे जाग।
शुचि सत्य-अहिंसा से वसंत! कर दो कुसुमित-मंजरित वृंत्
ऐसा हो भारत का वसन्त।

नवयुग

जाग जाएँ जान यदि अब भी प्रभात सत्य
देख-देख भृकुटी त्रिलोकी थहराने लगे

लेकर अटक से कटक तक "माता-जय!"
स्वर्ग से कुमारी तक घोष घहराने लगे

व्याप्त हों तरंगें रोम-रोम में प्रफुल्लता की
एकता का निर्मल पयोधि लहराने लगे

उतर पड़े तो आ हिमालय के कंधों पर
आसमान विजय-पताका फहराने लगे

नवयुग

अस्ताचलगामी क्षितिजस्थ भासमान देव !
थोड़ासा ठहर सुन जाना आज एक बात

छोड़ आना सकल पुरातन प्रमाद कहीं
आना कल लेकर उषा नवीन ज्योतिस्नात

लाना भर नूतन करों में अभिनव प्राण
और नवयुग के सँदेश का नवीन वात

फूँक दे जो म्रियमाण प्राणों में नवीन प्राण
जाग्रति-जनक ! कल ऐसा हो पुनीत प्रात

होगी दीप-दीपा गत नूतन उषा के साथ
भारत में फिर से नवीन युग आएगा

प्राची में प्रतीची अब लौट पुनः प्राची रवि
नियति-नियमरता रश्मियां बढ़ाएगा

दूर क्षण है न जब शैलराज-शिखिरस्थ
भारत स्वतन्त्रता की वीणा को बजाएगा

आकर विराट विश्व होके मन्त्रमुग्धवत्
होगा नत, शीश पाद-पद्म में झुकाएगा

पुस्तक में निम्नलिखित भूलें रह गई हैं।
पाठकवृन्द सुधार कर पढ़ें:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	५	अम्युत्थान	अभ्युत्थान
२३	६	उड़ादँ	उड़ादूँ
३१	१२	राजस्था	राजस्थान
६२	७	कम्पना	कल्पना
८०	३	क्या तुम्हें	क्या उन्हें
९१	६	प्रापद	आपद्
९८	४	पुण्यां शुमालि	पुण्यांशुमालि